आदर्श श्रमण-जीवन का स्वरूप

प्रो. सागरमल जैन

एक आदर्श जैन श्रमण के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए इस आलेख में डॉ. सागरमल जी ने बौद्ध श्रमण की विशेषताओं से भी परिचित कराया है तथा जैन श्रमणाचार की कठोरता, निरूपितकरता आदि के कारण उनके लाभ आक्षेपों का सुन्दर एवं तार्किक निराकरण किया है।

बौद्ध श्रमण-परम्परा की अपेक्षा जैन श्रमण-परम्परा की श्रेष्ठता के साथ उन्होंने समाज में मैतिक-व्यवस्था हेतु उनकी भूमिका का महत्व प्रतिपादित किया है।

आदर्श जैन-श्रमण का स्वरूप

बौद्धमान पुरुषों के उपदेश से अथवा अन्य किसी निमित्त से गृहस्थाश्रम को छोड़कर जो त्यागी भिक्षु सदैव ज्ञानी महापुरुषों के वचनों में लीन रहता है, उनकी आजानुसार ही आचरण करता है, नित्य चित को समाधि में लाता है, अधिवेशन के मोहजाल में नहीं फंसता और वमन किए हुए भोगों को फिर भोगने की इच्छा नहीं करता, वही आदर्श भिक्षु है। जो साधु ज्ञानपुरुष भगवान् महावीर के उत्तम वचनों में रचित रखते हुए सूक्ष्म तथा स्थूल- दोनों प्रकार के खून जीविनिकायों (प्रत्येक ज्ञानपूर्वक) को आत्मव्रत मानता है, पांच महापुरुषों का धारक होता है और पांच प्रकार के पापचार (प्रत्येक प्राणसमूह) से रहित होता है, वही आदर्श साधु है। जो ज्ञानी साधु, क्रोध, मान, माया और कोण का सदैव वमन करता रहता है, ज्ञानी पुरुषों के वचनों में अपने चित को स्थिर लगाए रहता है और सोना, चांदी, इत्यादि धन को छोड़ देता है, वही आदर्श साधु है। जो यूद्ध को छोड़कर अपनी दृष्टि को शुद्ध (सम्प्रतियूढि) रखता है; दन, वमन और काय का संयम रखता है; ज्ञान, तप और संध्या में रहस्य तप द्वारा पूर्व संचित कर्म का क्षय करने का प्रयत्न करता है, वही आदर्श भिक्षु है तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के आहार, पानी, खाद्य तथा स्वाभाविक दृष्टि वस्त्र पदार्थों की भिक्षा को कल या परसों के लिए संचय करके नहीं रखता और न दूसरों से रखवाला ही है, वही आदर्श साधु है। जो साधु कलहकारिणी, द्रेष्टाकारिणी तथा पीड़ाकारिणी कथा नहीं कहता, निमित्त मिलने पर भी किसी पर क्रोध नहीं करता, इन्द्रियों को निरचल रखता है, मन को शान्त रखता है, संयम में सर्वदा लीन रहता है तथा उपशाम-भाव को प्राप्त कर किसी का तिरस्कार नहीं करता, वही आदर्श भिक्षु है। जो कानों को कोट के समान हुँ देने वाले आक्रोश वचनों, प्रहारों, और अव्यय उपालों (उलाहनों) को शान्तिपूर्वक सह लेता है, भवर्क एवं प्रचंड गर्जना के स्थानों में भी जो निर्भर रहता है और सुख तथा हुँ देको समतापूर्वक भोग लेता है, वही आदर्श भिक्षु है। जो साधु मास आदि की प्रतिमा, ज्ञानी अभिग्रह स्वीकार कर रहेंगे में
अत्यन्त भयंकर दृश्यों को देखकर भी नहीं डरता है, मूलगुण आदि में और तपों में रत रहता है तथा ममता से शरीर को भी वर्तमान और भविष्य के लिए नहीं चाहता है, वह भाव-भिषु है। जो साधु अनेक बार कायोत्सर्ग करता है, अर्थात् शरीर की ममता को छोड़कर शोभा को त्यागता है तथा गारी सुनकर, मार खाकर या कुतु आदि के काटने पर भी जो पृथ्वी के समान श्रमाशील, सब कुछ यह लेने बाला होता है तथा जो किसी प्रकार का मिंदान-नियाम नहीं करता है और कौतुहल देखने-मुक्तने की तीव्र इच्छा से दूर रहता है, वह मुनि भावसाधु है। फिर, शरीर से परीष्ठों को जीतकर जो साधु जन्ममण्डल संसारमण्डल से अपनी आत्मा को उपर उठा लेता है और जन्ममण्डल का अत्यन्त भयंकर समझकर श्रमाशील व तप में लगा रहता है, वही भावभिषु है। जो साधु हाथों से संयत है, चरणों से संयत है तथा वचनों से संयत है और इन्द्रियों से संयत है तथा जो धर्म्यान में लगा रहने बाला और समाधिपूजन आत्मा बाला है तथा जो सुवार्थों को समझता है, वह भवसाधु है। जो साधु अपने वर्त-पात्र आदि भ्रंशोपकरणों में भी ममता और प्रतिबन्धरूप लोभ से रहित है तथा बिना परिचय के घरों में भिंका के लिए जाता है व संयम को निस्सार बनाने वाले पुलाक व निष्पुलाक-दोषों से दूर रहता है तथा खान-खीर बिक्री व संचय आदि से विरत रहता है और जो सब प्रकार से संगों के मुक्त है, वह साधु भावभिषु है। जो साधु नहीं मिली हुई चीजों में लोलपुता नहीं रखता तथा मिले हुए रसों में आसक्ति भी नहीं रखता है और भावस्वरूप गोचरी करता है तथा जो अस्तिमाधी-जीवन को नहीं चाहता है और जो स्थिरता-कोण होकर लघुरूप ग्रहित, वस्त्रादि को सत्कार तथा स्वतुति आदि से पूजा की भी आशा नहीं रखता है, वह भवसाधु है। जो साधु न जाति से मत बनता और न रूप से तथा जो लाभ में भी मद नहीं करता एवं श्रुतज्ञ का भी अभिमान नहीं रखता है और जो सब प्रकार के गर्भों को छोड़कर धर्मेयान में लगा रहता है, वह भावभिषु है। जो महामुनि सच्चे धर्म का ही मार्ग बनाता है, जो स्वयं सदर्म पर स्थिर रहकर दूसरों को भी सदर्म पर निर्धर करता है, त्याग-मार्ग ग्रहण कर दुराचारों के चिह्नों को त्याग देता है (अर्थात् कुसाधु का संग नहीं करता) तथा किसी के साथ ठीके रहे, मस्तखी आदि नहीं करता, वही सच्चा भिषु है। (ऐसा भिषु क्या प्राप्त करता है?) ऐसा आदर्श भिषु संदेह कल्याणमण्डल में अपनी आत्मा को स्थिर रखकर नर्तक एवं अपविद्वार देहावास को छोड़कर तथा जन्म-मण्डल के बंधनों को सर्वथा काटकर आपुराणगति मोक्ष को प्राप्त होता है।'

इसी प्रकार उत्तराधीनन्युत्तर में भी ‘सभिषु’ नामक अध्यात्म में आदर्श भिषु-जीवन का परिचय वर्णित है। जिसने विचारपूर्वक मुनि-वृत्ति अंगीकार की, जो सम्सरमणीय से सुकृत, सरल, निवासस्थान, सांसारियों के परिचय का त्यागी, विषयों की अभिलापा रहित और अज्ञात कुलों की गोचरी करता हुआ विचरता है, वही भिषु कहलाता है। राग-रहित, संयम में दुकानपूर्वक विचरने वाला, असंयम से निवृत्त, शास्त्रज्ञ, आत्मस्वाभाविक, बुद्धिमान, परीक्षपत्री, समाहारों, किसी भी वस्तु में मूल्यांकन नहीं करने वाला भिषु कहलाता है। कठोर वचन और प्रहर को जानकर समभाव से सहे, सदाचरण में प्रवृत्ति करे, सदा आत्मगुण रहे तथा जो अव्यय मन से संयममण्डल में आनेवाले काटों को समभाव से सहन करता है, वही भिषु है।
बौद्ध-परम्परा में आदर्श श्रमण का स्वरूप

बौद्ध-परम्परा में सुधीनिपात और धम्मपद में आदर्श श्रमण के स्वरूप का वर्णन है। सुधीनिपात का कथन है- संगठि से भय उत्पन्न होता है और गृहस्थी से राग, इसलिए मुनि एकांत और गृहस्थी जीवन को पसंद करता है। जो उत्पन्न पाप को उचित कर फिर उसे छोड़ देता, जो उत्पन्न होने पाप को बढ़ाने नहीं देता, उस एकांतचारी शातिरपद द्रष्टा महर्षि को मुनि कहते हैं। वस्तुस्थिति का भोध कर जिसने (संसार के) बीज को नष्ट कर दिया है, जो उसकी बृद्धि के लिए तराइ कर नहीं पहुँचाता, जो बुद्ध वित्त को त्यागकर अलीकड़ हो गया है, आवागमन से मुक्त उस महामया को मुनि कहते हैं। मुनि सभी
सांसारिक-अवसाथाओं को जानकर उनमें से किसी एक की भी आशा नहीं करता। त्रुष्णा और लोलुपता से रहित वह मुनि पुण्य और पाप का संचय नहीं करता, क्योंकि वह संसार से पंजी हो गया है। जिसने सबको अभिभूत किया है, जान लिया है, जो बुद्धिमान है, जो सब चीजों में अलिंग रहता है, जिससे सबको स्वागत है और त्रुष्णा का क्षय कर मुक्त हुआ है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। एकार, अप्रम्पत, निद्ध्रा-प्रशांत से अविचित, शाब्द से त्रस्त न होने वाले, सिंह की तरह किसी से भी त्रस्त न होने वाले, जाल में न फंसने वाली वायु की तरह कहीं भी न फंसने वाले, जल से अलिंग पद्म-पत्र की तरह कहीं भी लिस्त न होने वाले, दूसरों को मार्ग दिखाने वाले, दूसरों के अनुयायी न बनने वाले उस ज्ञानीजन को मुनि कहते हैं। जो खामे की तरह स्थिर है, जिस पर औरों की निद्ध्रा-प्रशांता का प्रभाव नहीं पड़ता, जो वैद्यनाथ और संयत-इन्द्रिय है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो ऋष्य और विश्वसनीय वाता है, जो पापक्रमों से परहेज करता है और हो विनियम तथा समान का छावन रखता है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो संगमी है और पाप नहीं करता, जो आरम्भ में ज्ञानों की तथा समान का छावन रखता है, जैसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो आधम और मध्यम व्य में संयत रहता है, जो न स्वयं चिढ़ता है और न दूसरों को चिढ़ता है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो अभिभावक, मध्यभाग या अवशेषभाग से भिक्षा लेता है, जिसकी जीविका दूसरों के लिए पेरिभरित है और हो दायक है निद्ध्रा या प्रशांता नहीं करता, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो मेघुने से बिवक थे एकाकी विचरण करता है, जो धौण में भी कहीं आसकत नहीं होता और मद-प्रमाण से निकल तथा निपुंस है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। ज्ञानीजन संचार को जान लिया है, जो परमार्थदर्शी है, जो संसारारूढ़ी बाढ़ और समुद्र को नारा कर स्थिर हो गया है, उस छत्र प्रारंभिक वास्तव को ज्ञानीजन मुनि कहते हैं।

जैन-श्रमणाचार पर आक्षेप और उनका उत्तर

अहिंसा पर निर्मित जैन नैतिक-नियमों को अत्यन्त कठोर, अव्यावहारिक और अत्यधिक बौद्धिक कहकर उनकी आलोचना की गई है।

जहाँ तक अहिंसा के सिद्धांत की बात है, वह अत्यधिक बौद्धिकता पर आधारित नहीं माना जा सकता। अहिंसा का मूल कृष्णा, अनुकूलम, समानता की भावना और प्रेम है, जो बौद्धिकता की अपेक्षा अनुभूति का विषय है, फिर इन पर आधारित नियम अतिबौद्धिक कैसे हो सकते हैं?

अहिंसा के आधार पर निर्मित जैन साधु-जीवन के नैतिक-नियमों की कठोरता के विषय में जो आक्षेप है, उसका परिमार्जन आवश्यक है। जहाँ तक जैन आचार-विधि के नैतिक-नियमों की कठोरता की बात है, उससे इलाके नहीं किया जा सकता। आलोचकों के इस कथन में सत्यता का अंश अवश्य है। भगवानु बुद्ध ने भी गृहनाम परिचय पर जैन-भिक्षुओं के कठोर आचरण तथा तपस्यापरिवर्तन देखकर उन भिक्षुओं के सम्मुख ही इस शारीरिक-कष्ट-देने की पद्धति की आलोचना की थी।

इस आक्षेप का उत्तर कठोर आचरण के मूल्य को समझने बिना नहीं दिया जा सकता, यद्यपि इस प्रयास में हम आक्षेप के मुद्दे से घिरे दूर होंगे, लेकिन वह आवश्यक है।
10 जनवरी 2011

जैन आचार-पद्धति के इतिहास में हमने देखा था कि मध्यवर्ती जैन-तीर्थकरों के युग में आचरण के नियमों में इतनी कठोरता नहीं थी, लेकिन जब मनुष्य में छल और प्रवचना की वृत्ति अधिक विकसित हो गई, तब महाकाव्य को कठोर नियमों का विवाद करना पड़ा। मनुष्य भोगों में आसक्ति रखता है और यदि उस ओर जाने के लिए धोरा-सा भी मार्ग मिला, तो वह भोगों में गुद्ध हो आधारात्मिक-साधन तब देता है। बुद्ध ने आचरण के कठोर नैतिक-नियम नहीं दिए, किन्तु इसका जो परिणाम बौद्ध श्रमण-संघ पर हुआ, वह हमारे सामने है। उसी पवित्र बौद्ध-संघ की संतान के रूप में वामाचार-मार्ग जैसे अनैतिक और आचारप्रथा सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ। व्यवस्थित कठोर नैतिक-नियमों के अभाव में वैदिक साधु-समाज की क्या स्थिति है, यह छिपा नहीं है। यदि जैन संघ-व्यवस्था में कठोर नैतिक-नियमों का अभाव होता, तो वह भी पतन के मार्ग में इससे आगे निकल गई होती।

मन की चंचलवृत्ति जब छल और प्रवचना से युक्त हो जाती है, तो उसके निरोध के लिए कठोर नैतिक-नियम आवश्यक हो जाते हैं। इतनी पात्रता की निष्ठा के लिए भिन्न विवेक के प्रयत्न करती रहती हैं। यदि कठोर नैतिक-नियमों के पालन के द्वारा उन पर संयम नहीं रखा जाए, तो वे व्यक्ति का अहित कर डालती हैं।

कठोर आचार या शारीरिक-कष्ट सहन का दूसरा पहलू है- आत्मा और शरीर के एक मानने की प्राप्ति को दूर करना। आधारात्मिक-साधना में यह आवश्यक है कि आत्मा को शरीर से भिन्न समझ जाए। सामान्य रूप से लोग शरीर और आत्मा को पृथक् नहीं मानते और शारीरिक-पीड़ा और सुख को वास्तविक मान बैठते हैं। आत्मविकास की आचार-पद्धतियों में आत्मा को शरीर से परे माना जाना आवश्यक है। साधक कठोर नैतिक-नियमों के पालन से उपयुक्त कष्ट को इसलिए भ्रमण करता है कि शारीरिक-कष्ट का उसकी आत्मा से कोई संबंध नहीं, वे उसकी आत्मा को सुखी-दुःखी नहीं कर सकते, इस तथ्य को समझ सके। वह कष्टों को निमंत्रण देकर इस बात की परीक्षा करता रहता है कि वह कितने अधिक रूप से शरीर और आत्मा के द्वीतीय बात अपना सकता है।

आचरण की कठोरता सपेक्ष है। आचरण का कौन-सा नियम कठोर है, यह नहीं कहा जा सकता। जो आचरण का नियम एक व्यक्ति को कठोर लगता है, वह दूसरे के लिए सरल हो सकता है। जैन-साध्वियों का यह नियम होता है कि वे वाहन का उपयोग नहीं करते, वरन् सभी औद्योग में नंगे पांव पैदल चलते हैं। अब यह नियम उस व्यक्ति के लिए, जिसमें गृहस्थ-जीवन में एक मील भी पैदल यात्रा नहीं की हो, कठोर होगा और उस किसान के लिए, जो रात-दिन पैदल चलता था, आसान होगा।

एक प्रकार का आचरण व्यक्ति को उस प्रकार के अभ्यास के पूर्व कठोर लगता है, लेकिन वही आचरण अभ्यास के बाद उसी व्यक्ति को सरल लगता है। जैन-साध्वि अपने केरों का मुद्दा नहीं करवाते, वरन् अपने हाथों से उखाड़ते हैं। नवदीक्षित साधु इसमें पीड़ा का अनुभव करते हैं, लेकिन 2-4 वर्षों के पर्याप्त देखने में आता है कि उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं होता। वे हैंसते-हैंसते
केशलंचन कर लेते हैं। सामान्य व्यक्ति के लिए एक समय का भोजन छोड़ देना कठिन मालूम होता है, लेकिन ऐसे लोग भी देखने में आते हैं, जो 8-10 दिन तक निराहार और निराला रहकर भी जीवन के सामान्य क्रमों का यथावत् सम्पादन करते हैं। कठोरता का मापदंड स्थिर नहीं रखा जा सकता, वह तो व्यक्ति के साहस, अभ्यास और शम्मता पर निर्भर है।

जो लोग जैनचा-विधि को अवयन कठोर बताते हैं, उनका मापदंड अपना है। वे अभ्यास या आत्मसाधन की हीनता में ऐसा समझ बैठे हैं। वे स्वयं को उस परिस्थिति में रखने के बाद विचार करें, तो उन्हें कठिन नहीं लगेगा।

जैनचा-विधि में श्रमण के सामान्य आचरणात्मक-सिद्धांतों पर किया जाने वाले आक्षेपों में प्रथम आक्षेप उसकी निवृत्तिपरकता पर किया जाता है। पारलाब-विचारकों ने इस वैराग्यवादी-धारणा की कुटुंब आलोचना की है। उसे व्यक्ति की सांसारिक-परिस्थितियों से समायोजित करने की शम्मता का अभाव माना है। उनकी दृष्टि में निवृत्तिपरक आचार-व्यवस्था एक प्रकार की नैराग्यवादी-मान्यता है, जो व्यक्ति के साहस को कुंडित करती है। इसे मानव-जाति के विकास में धातक माना गया है और पतलावनवादी मनोवृत्ति कहकर इसकी आलोचना की गई है।

इस आक्षेप के उत्तर के पूर्व हमें निवृत्ति के वास्तविक रूप को जानना होगा। निवृत्ति का अर्थ है-अनुभूत, पापकारी या हिंसक कायां से दूर होना। जैन ही क्यों, किसी भी निवृत्तिपरक आचार-व्यवस्था ने कभी शुभ, आहिनस, परोक्षकारी कायां का निषेध नहीं किया है। निवृत्ति का अर्थ संसार से या समाज से पतलायन नहीं है। सामायिक विचारकों को वह संसार से पतलायन इसलिए दिखाई देता है कि इस जगत में प्रवृत्ति के नाम पर जो स्वार्थ एवं स्वभित की धारणा और हिंसक-आचरण का वर्चस्व है, साधक उससे अपने को दूर कर लेता है। दूसरे, निवृत्तिपरक-आचरण साधक की सामजिक-शम्मता के अभाव का परिचायक नहीं है, वरन् साधक स्वयं उसे करना नहीं चाहता है, क्योंकि वह उसे विकास की सही दिशा नहीं मानता।

इसे निरालावादिता भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि साधक चर्म लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, साथ ही पूर्णता-प्राप्ति का यह लक्ष्य सहज प्राप्त्य नहीं है, अतः ऐसे मार्ग के पथिक में साहस का अभाव नहीं हो सकता, वरन् उसके हदय में तो साहस का सागर हिलारी मारता है। वैराग्यवादी-धारणा को सामाजिक-हिंसा में धातक मानना भी उचित नहीं, क्योंकि प्रथम तो, वैराग्य का लक्ष्य आत्म-विकास के साथ ही जन-कल्याण भी रहता है। साधक का एक काम यह भी है कि वह साधन के द्वारा जिस स्तर को प्राप्त करे, उसे उस समाज को भी बताए जिसके द्वारा अपनी शारीरिक-आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जैन साधु के लिए यह आवश्यक है कि वह लोगों को समार्ग बताए।

समाज में नैतिक-व्यवस्था बनाए रखने के लिए वे साधक प्रहरी और प्रेरणासृज होते हैं, जो समाज से अल्पतम लेकर नैतिक-मूल्यों को जीवित रखते हैं। इस प्रकार, श्रमण-साधक समाज-हिंसा के
घातक नहीं है, वरन् वे समाज-व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण सेवा अर्पित करते हैं। वे समाज के सामने कठोर यातनाएं सहकर कर्तव्यचुत नहीं होते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनका जीवन ‘सादा जीवन, उच्च विचार’ का प्रतीक बन, समाज के प्राणियों में सदभावना-सहयोग और परोपकार की वृत्ति जागृत करता है, वे लोगों को स्वार्थ के लिए जीना नहीं सिखाते, वरन् स्व-पर कल्याण का गर्भ प्रशास्त करते हैं।

यदि हम समाज में नैतिक-व्यवस्था चाहते हैं, सद्गुणों का विकास चाहते हैं, आपस में छिन्न-झिन्न समाज करना चाहते हैं, तो इन नैतिकपर-जीवन विचार करने वाले साधकों के महत्त्व को समझना होगा।

लोग नैतिकपर-जीवन जीने वाले साधकों को समाज पर भार समझते हैं। उन्हें सामाजिक-श्रम का शोषक कहा जाता है। किन्तु उन लोगों को छोड़कर, जो केवल साध्वृति के नाम पर पेट पालते हैं, सच्चे साधु या साधक को समाज के श्रम का शोषक नहीं कहा जा सकता। हम अपराधों को रोकने, या धन-सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए कौड़ों रुपए ब्याज करते हैं, पुलिस, चौकीदार और बड़े-बड़े न्यायाधीश रखते हैं, उन्हें सामाजिक-श्रम का शोषक नहीं कहा जाता, लेकिन जो रोटी का रुपए और कपड़ा लेकर समाज में सद्गुणों के विकास के लिए प्रयास करे, उपदेश दे, लोगों को नैतिक-आचरण से विमुख रखे और स्वयं के आचरण से आदर्श उपस्थित करे, उसे हम सामाजिक-श्रम का शोषक कहें, यह बात बुद्धिमत्ता नहीं लगती। यह सबसे बड़ी मूर्खता है कि हम सदाचार के वृक्ष को लगाने वाले को अपेक्षा दुराचार की पास खोदने वाले को अधिक महत्त्व देते हैं, जिसका परिणाम स्थायी नहीं है।

श्रमणन्यान पर एक आक्षेप यह लगाया जाता है कि सामाजिक-विकास के लिए सभी सदस्यों का सहयोग अपेक्षित होता है। यही नहीं, वरन् समाज के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य भी होता है कि वह सामाजिक-विकास में अपना भाग अदा करे, किन्तु श्रमण-वर्ग समाज के विकास में अपना योगदान नहीं देता है और सामाजिक-विकास में बाधक है। इस आक्षेप का मूल कारण यह है कि हम केवल भौतिक-विकास को ही विकास मान लेते हैं और भौतिक तथा आध्यात्मिक-विकास को भूल जाते हैं। भौतिक-विकास सामाजिक-विकास का एक अंग हो सकता है, लेकिन वह खुले सामाजिक-विकास नहीं है। दूसरे, भौतिक-विकास को भौतिक और सामाजिक-विकास से अधिक मूल्यवान भी नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में जैन साधु-वर्ग, जो नैतिक और आध्यात्मिक-विकास में सहयोग देता है, सामाजिक-विकास का बाधक नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन आचार-दर्शन में श्रमण-संस्था वैयक्तिक एवं सामाजिक-जीवन में नैतिकता की प्रहरी है। उसके मूल को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

संदर्भः-
1. दशवैकालिक, अध्ययन 10
2. उत्तराध्ययन, 15.1-16
3. सुन्तनिपात 12.1-3

--निदेशक, प्रत्येक विद्यापीठ, शाहपुर (म.प.)